दलित व्यथा का यथार्थ

डॉ. सौभाग्यवती

इक्कीसवीं सदी के प्रथम चरण की शुरुआत में भारतीय समाज में यद्यपि समानता, अखंडता और सार्वभौमिकता के आधार पर मानवीय मूल्यों की अनिवार्यता महसूस की जा रही है लेकिन व्यवहार में हमारे यहां जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र और लिंग आदि के आधार पर विखंडन की स्थितियां स्पष्ट नजर आ रही हैं। ईश्वर कृत वर्णव्यवस्था की मान्यता के कारण द्विज संस्कृति और शूद्र संस्कृति का द्वंद्व आजादी के पांच दशक बाद भी बना हुआ है तथा वर्तमान में यह द्वंद्व सवर्ण और असवर्ण जातियों में अपने भीतरी कारणों से अनेक जातियां-उपजातियां विकसित हो जाने के कारण पहले की अपेक्षा और अधिक जटिल हो गया है।

उल्लेखनीय है कि स्वाधीनता संग्राम के राष्ट्रीय-आंदोलन में गांधी जी के साथ नेतृत्व करते हुए इजारेदार पूंजीपति वर्ग ने अंबेडकर और उनके साथियों से दलित संदर्भ में आरक्षण के साथ ही समानता और सामाजिक न्याय के अधिकार देने का वादा किया था। यद्यपि आजादी के संघर्ष के दौरान अंबेडकर ने आरक्षण की जोरदार वकालत करने के साथ ही दलित वर्ग के दलितपन की मुक्ति की अनिवार्यता का औचित्य समझाते हुए स्पष्ट कहा था कि जिस तरह एक देश को दूसरे देश द्वारा गुलाम बनाने की स्थिति शर्मनाक है, उसी तरह एक कौम को अपने ही देश और समाज में दूसरी कौम द्वारा गुलाम बनाकर रखना भी शर्मनाक और निंदनीय है। और यह भी कि जो कौम अपने करोड़ों भारतीय नागरिकों को दास बनाए हुए

है, उसे राष्ट्र के लिए आजादी मांगने का क्या अधिकार है? लेकिन देश को औपनिवेशिक दासता से मुक्त कराने के संघर्ष को महत्व देते हुए अंबेडकर स्वयं आंदोलन में सम्मिलित हुए और दलित वर्ग तथा समग्र भारतीय जनों का आजादी की लड़ाई में शामिल होने का आवाहन किया। लेकिन स्वाधीनता प्राप्त करने के बाद पूंजीपति वर्ग ने आरक्षण देने के अलावा अपने सभी वादों को भुला दिया तथा सामंतवाद से गठजोड़ करके सत्ता का अधिकार प्राप्त कर लिया। कहना न होगा कि पूंजीवाद और सामंतवाद का यह गठजोड़ दलित वर्ग के लिए अत्यंत घातक सिद्ध हुआ क्योंकि दलित तो पहले से ही सामंती उत्पीड़न के घोर शिकार बने हुए थे। ऐसे स्वाधीनोत्तर माहौल में समानता का नारा पीछे रह गया और विविधता में एकता का नारा प्रचलित कर दिया गया। सामाजिक धरातल पर यह दलितों के प्रति बहुत बड़ा छल और विश्वासघात था। वास्तव में अंबेडकर को ही इसका श्रेय है कि उन्होंने दलितों को संवैधानिक अधिकार दिलाने के लिए 1955 में संसद में 'अनटचेबिलिटी एक्ट' पास कराया जिसमें सवर्णों द्वारा किए जाने वाले भेदभावों और अस्पृश्यता से दलितों को मुक्त करने का विधान है।

यद्यपि गांधी जी का हरिजन आंदोलन भी अछूतों के पक्ष में चला लेकिन गांधी भी जातिवाद को खत्म करने के पक्ष में नहीं थे और वर्णव्यवस्था की दैवी प्रथा वाली बात का उन्होंने खंडन नहीं किया। यही कारण है कि गांधी जी के हरिजन अभियान का दलितों ने उनके जीवन में तथा उनके निधन के बाद भी विरोध किया। आजादी के पूर्व जिन महापुरुषों ने अस्पृश्यता निवारण की आवाज उठाई थी उनमें स्वामी दयानंद का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है। दयानंद ने जन्म से जाति की अवधारणा का विरोध किया था और कर्मणा जाति के आधार की मान्यता की घोषणा की थी परंतु जाति व्यवस्था के उन्मूलन की बुनियादी जरूरत को अंबेडकर ने ही प्रमुखता दी थी। वे सामाजिक न्याय की अवधारणा को समझते थे, इसलिए वर्ण व्यवस्था को परंपरागत पैमाने पर समूल नष्ट करने के पक्ष में थे। खेद है कि कानून बनने के बाद भी हिंदू सत्ताधारियों ने उसे अमान्य करते हुए अस्पृश्यता के कलंक को आज भी बरकरार बनाये रखा है।

यह सर्वविदित है कि आजादी के बाद लगभग साढ़े चार दशकों तक कांग्रेस पार्टी ने सत्ता का सुख भोगा। दलितों और अल्पसंख्यकों को वोट बैंक से निरंतर लाभांवित होने वाली कांग्रेस पार्टी का वर्चस्व अब मंद पड़ गया है। निरंकुशता, भ्रष्टाचार और पूंजीवादी व्यवस्था की अनुकूलता के सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक असंगत कारणों से संसदीय जनतंत्र के सामने संकट खड़ा हो गया। अपदस्थ कांग्रेस का विकल्प बनने के लिए सभी विपक्षी दलों में अफरातफरी मच गई। सभी तरह के जोड़ तोड़ और हथकंडे अपनाने के बाद भी हिंदू राष्ट्र का स्वप्न देखने वाली भारतीय जनता पार्टी उतने वोट नहीं समेट पाई जिससे वह स्वतंत्र रूप से कांग्रेस की तरह अकेले सत्तासीन होती, फलतः गठबंधन वाली सरकार 'राजद' बनी।

आजादी के पचास साल से भी अधिक समय की अवधि में पूंजीवादी विकास के साथ एक मध्य वर्ग विकसित हुआ और कमोबेश सभी वर्गों में एक नवधनाढ्य वर्ग पैदा हुआ। दलित वर्ग में भी एक सुविधासंपन्न दलित वर्ग पैदा हुआ। इस माहौल में सबसे ज्यादा अन्याय और उत्पीड़न का शिकार गरीब दलित समूहों को बनना पड़ा। उन्हें दोहरी मार झेलनी पड़ी। एक ओर परंपरागत सामंती शक्तियों का शोषण तो दूसरी ओर नवधनाढ्य बने दलितों का दबाव, दोनों ने गरीब दलित को तंगहाली में पटक दिया। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि धनिक दलित एक तरह से दलित सामंत के रूप में सामने आकर अपने ही दलित समाज का दमन करने लगे। इसलिए दलित की पीड़ा या व्यथा को समझने के लिए हमें गरीब दलित की ही वैदिक काल से आधुनिक काल तक की कड़वी सच्चाई को समझना होगा।

पिछले कुछ वर्षों से अंबेडकर की मूर्तियां नुक्कड़ों, चौराहों, न्यायालयों, उद्यानों, पार्कों आदि में स्थापित की जा रही हैं। अनेक संस्थाओं और संस्थानों को अंबेडकर एवं उनके साथी नेताओं के नाम से विभूषित किया जा रहा है। इससे ऐसा लगने लगा है कि अंबेडकर की विचारधारा का प्रचार-प्रसार हो रहा है, लेकिन ऐसा है नहीं। वास्तविकता यह है कि अपना जनाधार बनाने के लिए सभी दल दलितों के वोट बैंक की ललक में अंबेडकर का नाम उछाल रहे हैं। दलित सामंत जो साधन संपन्नता के कारण आरक्षण से लाभांवित होने का कोई मौका नहीं चूकते, आम दुर्बल दलितों

को निहित स्वार्थ के लिए बेवकूफ बना रहे हैं। गरीबों की अशिक्षा, निर्धनता, बेरोजगारी, बीमारी, असुरक्षा और अन्याय की परवाह किसी को नहीं है। बहुजन समाज दल के नेताओं के पास भी दलित वर्ग की निरक्षरता और विपन्नता को दूर करने का कोई प्रोग्राम नहीं है। अंबेडकर की अस्पृश्यता उन्मूलन की चुनौती दूर दूर तक दिखाई नहीं देती। बस सत्ता प्राप्ति और नेता बनकर अपने व्यक्तित्व का प्रदर्शन तथा घर-परिवार की अगली पीढ़ी तक के लिए सुख-साधन जुटा लेने का इरादा जरूर उनकी हरकतों से प्रदर्शित होता है।

सत्ता की लालसा और आरक्षण की सुविधा के चलते जातिवाद, क्षेत्रवाद और सांप्रदायिकता जैसे नकारात्मक तत्व चारों ओर आक्रमकता, विघटन और हिंसा का वातावरण बना रहे हैं। आरक्षण का मूल प्रयोजन जो आर्थिक आधार पर टिका है, कहीं दिखाई नहीं देता। सर्वथा भिन्न अर्थों में उसका दुरुपयोग हो रहा है। हिंदुत्ववादी शक्तियां लुभावने प्रलोभनों से दलितों, आदिवासियों और वनवासियों को पर्वों-उत्सवों का आयोजन कर रहे हैं।

बाबा साहब के विचारों को नये-नये अर्थ दिये जा रहे हैं। इसका परिणाम यह देखने में आ रहा है कि दलित समाज में और अधिक विभाजन हो गया है। गरीब दलित की गरीबी दूर करने और उसे सम्मानित स्थान दिलाने का सामाजिक कार्यक्रम सिरे से गायब है, पर अंबेडकर, पेरियार और ज्योतिबा तथा कई विलुप्त दलितों के नाम जरूर जब तब सभाओं और रैलियों में गुंजायमान होने लगे हैं।

परिदृश्य ऐसा बन गया है कि धनी दलित गत पचास सालों में और अधिक संपन्न तथा गरीब दलित और अधिक विपन्न बन गया है। ग्रामीण समाज में यदि किसी गरीब दलित के पास जमीन का कोई खंड है भी तो वह आगे बचा रहेगा इसकी कोई गारंटी नहीं है। सामंती ताकतें गांव में निर्ममता से दलितों को उखाड़ने में लगी हैं। ऊपर से सरकारी और गैर-सरकारी नीतियों तथा भूमंडलीकरण की बाजारवादी दृष्टि के चलते बेचारा दलित कभी भी भू-माफियों द्वारा विस्थापन का शिकार बनाया जा सकता है। वह किसी भी क्षण भूदास का रूप ले सकता है।

चित्र का दूसरा पहलू यह है कि गत दो दशकों के सामाजिक अध्ययनों का निष्कर्ष बताता है कि बिहार और उत्तर प्रदेश में बहुत बड़े पैमाने पर दलितों के संदर्भ में आरक्षण का केंद्रीकरण हो चुका है और यह भी कि नौकरशाही के एक बड़े भाग ने सवर्ण मूल्यों का अनुकरण करके एक लंबा रास्ता पार कर लिया है। दोनों प्रदेशों के शासक वर्गों ने आरक्षण के माध्यम से दलित समूहों में स्तरीकरण की प्रक्रिया शुरू कर दी है। इससे एक नई स्थिति यह बनी कि दलितों के एक विशिष्ट वर्ग ने सवर्ण राजसत्ता के एजेंट का काम शुरू कर दिया है। सवर्ण शासकों ने इस बात में सावधानी बरती है कि इस प्रक्रिया में उन्होंने अपने वर्ण और वर्ग पर तनिक भी आंच नहीं आने दी। वे अपनी वर्णवादी यथास्थिति से तनिक भी नहीं हिले। अब दलितों के लिए सोचने का विषय है कि जिस वर्ग को चुनौती देनी है, यदि उसी से समझौता कर लिया तो संघर्ष किसके खिलाफ होगा? निश्चय ही समझौता परस्तों की लगाम उच्च वर्ग के हाथों में रहेगी कि दलित क्या करें, क्या न करें। इतना जरूर कहना होगा कि नौकरीपेशा दलितों को यह नहीं भूलना चाहिए कि अस्मिता के संघर्ष और सामाजिक न्याय पाने की लड़ाई अभी शेष है। वह खत्म नहीं हुई है। उनके दलितपन की अशुद्धता तभी दूर होगी जब वे अपने व्यक्तित्व में समाहित अछूतपन और वर्णव्यवस्था की यथास्थिति को खंडित कर देने के संघर्ष में शामिल होकर सफलता प्राप्त कर लेंगे।

वर्तमान समाज में एक तरह का सामाजिक बदलाव ऐसा आया है कि अनेक पिछड़ी जातियों के प्रतिनिधि आरक्षण का लाभ प्राप्त करके आगे बढ़ गए हैं और ठीक उसके बाद से उनके द्वारा दलितों के उत्पीड़न की घटनाओं में काफी वृद्धि हुई है। इससे समाज के बहुत से विवेकशील लोग यह सोचने लगे थे कि अब सवर्णों की ओर से दलित शोषण-उत्पीड़न में बहुत कमी आ गई है और पिछड़ी जातियों के लोग ही अधिकतर दलित दमन करने में लगे हैं। लेकिन हाल ही में उत्तर प्रदेश में अकेले जून के महीने फतहपुर, जालौन, अलीगढ़, आजमगढ़, मिर्जापुर और इलाहाबाद आदि में दलित अत्याचार और हत्याओं की सनसनीखेज घटनाएं जिस रूप में लगातार सामने आई हैं उससे उक्त सोच अनुचित साबित हो जाता है। ध्यान देने की बात है कि जब से उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री का पद राजनाथ सिंह ने ग्रहण किया है तब से उनके जातीय भाइयों को दलितों और गरीबों पर अत्याचार करने और गोली चलाने की

छूट मिल गई है। अलीगढ़ जिले के चंडौस क्षेत्र में पांच दलितों की हत्या कर दी गई। फतहपुर जनपद के हसनपुर गांव में दो दलित महिलाओं तथा तीन बच्चों को पीट-पीटकर मार डाला गया। आजमगढ़ जिले के सराय मोहन गांव की प्रधान दलित महिला और उसके देवर से जो प्राइमरी स्कूल में अध्यापक है, एक अधिकारी द्वारा दंड बैठक करवाना, लखनऊ मे मलीहाबाद क्षेत्र की नाबालिग बारह वर्षीया लड़की से बलात्कार करना, तथा एक अन्य पासी युवती के साथ जमींदार द्वारा बलात्कार जैसी अमानुषिक घटनाएं सिद्ध करती हैं कि हिंदू राष्ट्रवादी मुख्यमंत्री एक ओर आसन्न चुनाव के कारण आरक्षण के अंतर्गत आरक्षण में अति दलित, अति पिछड़ा और अति गरीब को आश्वासन दे रहे हैं कि उनको गत वर्षों में जो लाभ नहीं मिले वे अब मिलेंगे, और दूसरी ओर उपर्युक्त अत्याचार और हत्याएं अधिकतर उन्हीं की जाति के लोगों द्वारा की गई हैं जिनकी महीनों तक थानाध्यक्षों ने शिकायतें दर्ज नहीं कीं और अपराधी छुट्टा घूमते रहे। क्यों न घूमें? उन्हें कानूनन संरक्षण जो मिला हुआ है। ऐरे-गैरे के आरक्षण का संकल्प और एससी/एस टी/एक्ट 310 को पैरालाइज कर देना ये दोनों काम एक साथ राजनाथ सिंह ही कर सकते हैं।

ज्ञातव्य है कि इन हिंसक वारदातों में जो तथ्य सामने आये हैं वे गौरतलब हैं। पहली बात यह कि दलितों में जो सामाजिक चेतना जागी है, उसे कुचल देना और दहशत पैदा करके वातावरण को भयंकर बना देना। दूसरे, इन सभी हिंसक घटनाओं और हत्याओं को गांव की दो जातियों के आम झगड़ों जैसा प्रचारित करना जिससे असलियत सामने न आ सके। तीसरे, अपराधियों को पूरी छूट देकर चुनाव से पूर्व सामंतवादी भुजबल-प्रधान माहौल का प्रदर्शन करना।

याद रहे कि हमारे प्रधानमंत्री उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ से सांसद चुने जाते हैं। उनके स्वप्नों का भारत दलित-विरोधी होगा, यह प्रयोजन तो उत्तर प्रदेश के विधानसभा चुनावों के पूर्व ही समझ में आने लगा है। समाजशास्त्रियों का कहना है कि दलित अत्याचारों के मामलों में उत्तर प्रदेश इस समय बिहार के 70 के दशक वाली स्थिति से गुजर रहा है। 70 का पूरा दशक बिहार में दलित और पिछड़ों पर हुए जुल्मों की दास्तान से सराबोर रहा है। बिहार में अब अत्याचार पूर्ण क्रिया की प्रतिक्रिया तुरंत होती है। वहां के दलित आज मुकाबला करने की स्थिति में पहुंच चुके हैं, लेकिन उत्तर प्रदेश में दलित अभी उस स्थिति तक नहीं पहुंच पाए हैं, जबकि दोनों राज्यों की सामाजिक संरचना समान है। यदि दलितों की ओर से बदले की प्रक्रिया शुरू हुई तो एक और राज्य जातीय हिंसा की चपेट में आ जायेगा।

सुनने में आ रहा है कि उपर्युक्त दुर्नाम वारदातों के कारण अपमानित और भयभीत उत्तर प्रदेश के दलित समाज के लाखों लोग शीघ्र ही धर्मांतरण करने का इरादा बना रहे हैं। इलाहाबाद की एक विशाल सभा में दलितों ने इस तरह का प्रोग्राम बनाया है। हाल ही में राजस्थान के उदयपुर नगर में अजा-नजा समूहों के उच्चस्तरीय नेतृत्व ने भी एक संयुक्त सभा करके यह निर्णय लिया है कि वे आगामी अक्टूबर में व्यापक सम्मेलन करके दिल्ली में बौद्धधर्म अंगीकार कर लेंगे जिसमें लाखों दलित व गरीब सम्मिलित होंगे।

जाहिर है कि धर्मांतरण की इस तरह की स्थितियां सामंती शोषण और अत्याचार से मुक्त होने की प्रतिक्रिया स्वरूप बनी हैं, लेकिन दलितों को यह याद रखना होगा कि धर्मांतरण से समस्या का समाधान होने वाला नहीं है। बुद्ध की मृत्यु के कुछ वर्षों बाद ही उनके शिष्यों ने संघारामों का निर्माण कर लिया जो बुद्ध की शिक्षा के विरुद्ध है। बौद्धधर्म भी कई शाखाओं में विभाजित है जो परस्पर विरोध प्रदर्शन करते रहते हैं। मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी गौतम बुद्ध की प्रतिमा का पूजन बौद्धजन करने लगे हैं। तात्पर्य यह है कि अन्यत्र भी गुमराह होने के विभिन्न कारक मौजूद हैं। अतः अंबेडकर के अनुयायिओं को संघर्ष का सकारात्मक रास्ता चुनना चाहिए। उस रास्ते से मुंह मोड़ने का अर्थ है अंबेडकर की न्यायोचित मानवीय विचारधारा की अस्वीकृति। सामाजिक आग्रहबद्धता वाली वर्ण व्यवस्था को तोड़ना और उसका भंडाफोड़ करना ही संघर्ष का ध्येय होना चाहिए। इस ध्येय को सर्वहारा वर्ग के साथ लामबंदी करके और उत्पादन के साधनों में साझेदारी करने के उपरांत ही पूरा किया जा सकता है।

दलित संदर्भ का यह विमर्श अधूरा ही रहेगा यदि दलित स्त्रियों की स्थिति पर विचार न किया जाए। यह मात्र संयोग नहीं है कि

मध्ययुगीन और उससे भी पहले की संस्कृति में पुरोहितवाद ने 'स्त्री शूद्रौं नाधीयताम्' अर्थात् स्त्री और शूद्र वेद पढ़ने के अधिकारी नहीं हैं कहकर दोनों को समाज के सबसे निचले पायदान पर खड़ा कर दिया था और भक्तिकालीन तथाकथित महाकवि तुलसी ने भी *'ढोल गंवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी'*, कहकर उसी पुरानी संकीर्णता का समर्थन किया था। दलित स्त्री तो दोहरे उत्पीड़न को झेलती है। पुरानी चली आ रही सामाजिक सामंती व्यवस्थाकृत शोषण और आधुनिक समय में अपने दलित समाज में पारिवारिक-सामाजिक उत्पीड़न का आये दिन वह शिकार बनती रहती है क्योंकि पिछड़ेपन के कारण दलित वर्ग में स्त्री जागरण का कोई प्रोग्राम नहीं है। वर्तमान वैश्वीकरण के दौर में और सोवियत संघ के विघटन के उपरांत जो विषम परिस्थितियां निर्मित हुई हैं, उनके बाजारवादी नजरिये के कारण विकासशील देशों की गरीब स्त्रियों की दशा और अधिक दयनीय बन चुकी है। दुर्बलों का संघर्ष कमजोर हुआ है। उसी दशा से देश की दलित स्त्रियां गुजर रही हैं। कितनी शर्मनाक बात है कि कानूनी प्रतिबंध होते हुए भी सिर पर मैला ढोने का अमानवीय रिवाज हमारे समाज में आज भी बना हुआ है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण उदयपुर नगर के जगदीश चौक के आसपास की अनेक रिहायशी बस्तियां हैं, जहां दलित महिलाएं और उनके बच्चे रोजाना तंग गलियों में घुसकर मैले को सिर पर ले जाने को मजबूर होते हैं। देश के अन्य भागों में भी अभी इस स्थिति के जारी होने के समाचार हैं। स्त्रियों को नंगा करके घुमाने की घटनाओं में पचास प्रतिशत से भी अधिक दलित स्त्रियों से संबंधित होती हैं। इस तरह की असंगत स्थिति में किसी भी संवेदनशील और सचेतन मनुष्य यह सवाल पूछ सकता है कि आखिर कुछ लोग इतने प्रभुत्वशाली क्यों है कि वे शिखर पर बैठकर साधनहीन निर्बलों से निम्न से निम्नतर कार्य कराकर अपना हित साधन करते हैं? जाहिर है कि हमारे सामाजिक तंत्र का रूढ़िवादी ढांचा इतना अमानवीय लेकिन स्थाई है कि उसको तोड़ना एक कठिन समस्या लगती है।

अब समय आ गया है कि दलित चेतना के साथ समाज के गरीब ब्राह्मण, गरीब ठाकुर और गरीब वैश्य लोगों की चेतना भी जुड़ जाए। भले ही उनका वर्ण भिन्न है लेकिन वर्गीय स्थिति समान है। अगड़ी-पिछड़ी जातियां की कमजोर और दीन-हीन बने जन समुदाय को भी वर्ण व्यवस्था की निरर्थकता को समझते हुए मानवता की प्रतिष्ठा और अलगाववाद की गर्हित स्थिति को खंडित करने के लिए मानव मुक्ति के व्यापक संघर्ष की हिस्सेदारी करना अनिवार्य है। मानवतावाद के पुरोधा एवं त्रिकालदर्शी मार्क्स के इन विचारों को हम न भूलें—

'मानवता का स्वर्ण युग अतीत में नहीं था, वह भविष्य में है। हमारे पूर्वजों ने उसे नहीं देखा था, हमारे बच्चे उसे देखेंगे।'